



## ‘ऋग्वेद’ में पर्यावरण चेतना : एक अध्ययन

प्रस्तुत शोधपत्र में ‘ऋग्वेद’ में पर्यावरण चेतना का अध्ययन किया गया है। आधुनिक समय में विकास की अपनी अंधी दौड़ के कारण मानव लगातार अपने पर्यावरण की अनदेखी करता हुआ यह बात भी भूल रहा है कि ऐसा करते हुए वह अपने ही विनाश के द्वारों को उद्घाटित कर रहा है। अतः यदि मानव को अपना वास्तविक विकास एवं उन्नयन करना है, तो उसे अपने पर्यावरण का संरक्षण करना होगा। हमारे ग्रंथ ‘ऋग्वेद’ से हमें यही निर्देश प्राप्त होते हैं कि मानव को प्रकृति का एक अभिन्न अंग होने के कारण प्रकृति के अन्य अंगों - वायु, जल, भूमि, वनस्पति, पशु, पक्षी आदि के संरक्षण संवर्द्धन एवं पोषण पर भी ध्यान देना होगा, तभी वह हर क्षेत्र में अपना विकास एवं उन्नयन करते हुए सुन्दर, स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन जी पायेगा।

### डॉ.सरिता बहुगुणा

‘पर्यावरण’ शब्द ‘परि’ एवं ‘आङ्’ उपसर्ग पूर्वक आवरणार्थक ‘वृ’ धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। जिसका सरल शाब्दिक अर्थ है, चारों ओर से घेरने वाला लबादा। पर्यावरण वायु, जल, स्थल आदि घटकों से निर्मित होता है। प्रकृति की समस्त जड़-जंगम वस्तुएँ अपना-अपना सम्बन्ध रखती हैं। समस्त सृष्टि एक व्यवस्था में रहती है और यह व्यवस्था प्रकृति के अनुशासन के नियमों पर आधारित होती है। प्रकृति के इन नियमों का पालन न होने पर प्रकृति का संतुलन बिगड़ जाता है और प्रकृति की सुन्दर व्यवस्था में कई विकार उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य और अन्य जड़-जंगम जगत् में इतना अन्तर है कि अन्य जड़ चेतन जगत् अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हैं।

अतः वे प्रकृति का दोहन नहीं करती और मनुष्य अपने विकास, उन्नयन एवं अपनी अन्य अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति का दोहन करता है, इसलिए उसे उसके संरक्षण, पोषण एवं संवर्द्धन हेतु कार्य करने होते हैं। इसी बात को प्रस्तुत उदाहरण के द्वारा भी समझा जा सकता है। “सभी प्राणी प्रकृति गत प्रवाहों का स्वाभाविक उपयोग करते हुए अपना निर्वाह करते हैं, उनमें से कोई भी प्रकृति का दोहन नहीं करता। मनुष्य में प्रकृति का दोहन करने की क्षमता है। उसका दायित्व बनता है कि यदि वह प्रकृति का दोहन करता है, तो उसके पोषण के भी विशेष प्रयास करे। हर मादा अपने बच्चों के पोषण के लिए दूध उत्पन्न करती है, यदि मनुष्य गाय का दोहन अपने लिए करता है, तो उसका दायित्व बनता है कि गाय के पोषण की ऐसी व्यवस्था भी बनाए, जिससे दोहन के बाद भी उसके बच्चों के लिए पर्याप्त दूध-पैदा होता रहे।”<sup>(1)</sup>

अतएव पर्यावरण को संतुलित, सुव्यवस्थित रखना प्रत्येक मानव का परम कर्तव्य होना चाहिए। आदिकाल में ऋग्वैदिक

ऋषियों ने इस बात का अनुभव किया था। अतएव वे अपने पर्यावरण के प्रति बड़े जागरूक, सचेतन सावधान एवं प्रबुद्ध थे और इसी कारण उनकी प्रखर प्रज्ञा एवं भावप्रवणता ने प्रकृति के विभिन्न अंगों में विभिन्न देवताओं के रूप को पाया और अनेक प्रकार से इन प्राकृतिक शक्तियों जैसे भूमि, जल, वायु, सूर्य, अग्नि, उषा, आकाश आदि की उपासना करते हुए अपने यज्ञादि श्रेष्ठ कार्यों, अनेक परिश्रमपूर्ण कार्यों एवं अपने अन्य कारणीय कर्मों को करते हुए अपने विकास एवं उन्नयन के साथ-साथ पर्यावरण का भी संरक्षण, संवर्द्धन, पोषण एवं उन्नयन किया। “वैदिक महर्षियों ने मानव जीवन के हितार्थ पर्यावरण के महत्त्व एवं उसकी रक्षा हेतु गहन चिन्तन किया। प्रकृति के सानिध्य में रोगों के उपचार के अनेक तत्त्व प्रस्तुत किये हैं। वैदिक युग में पर्यावरण के महत्त्व को समझा गया था व उसकी रक्षा हेतु सम्पूर्ण मानव समाज समर्पित था। उनका खान-पान व रहन-सहन प्रकृति के अनुसार था। वे प्रकृति को परमात्मा का स्वरूप समझ कर पूजते थे। वे जानते थे कि उनका असितत्त्व प्रदूषण रहित प्राकृतिक परिस्थितियों पर निर्भर है।”<sup>(2)</sup>

ऋग्वैदिक काल में यज्ञ संस्था का विकास भी प्राकृतिक पर्यावरण के संरक्षण हेतु ही हुआ। यज्ञ ऋग्वैदिक काल के समाज की दिनचर्या का प्रमुख अंग रहा है।

*यदग्ङ दाक्षुषे त्वमग्ने भद्रं करष्यसि।*

*त्वेत्तसत्यमग्ङिरः।।*<sup>(3)</sup>

प्रकृति से प्राप्त धनों को अपने उपभोग के साथ-साथ प्रकृति के संरक्षार्थ भी लगाना चाहिए—

*“द्रविणोदा ददातुनो वसूनि यानि शृण्विरे।*

*देवेषु ता वनामहे”।।*<sup>(4)</sup>

जब हमारे श्रेष्ठ कार्यों द्वारा प्रकृति का संरक्षण होता है, तब

प्रकृति भी हमें अनुदान प्रदान करती है –

**“एवाहि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते  
सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे” (6)**

वायु प्रकृति का एक प्रमुख घटक है। ऋग्वेद में कई स्थलों पर वायु के स्वरूप, महत्त्व और संरक्षण का प्रतिपादन किया गया है। वायु की स्तुति ऋग्वैदिक ऋषि इस प्रकार करते हैं, हे वायुदेव! पवित्र उषाएँ आपके लिए दूर स्थित, नवीन दर्शन – योग्य रश्मियों से अद्भुत कल्याणकारी वस्त्रों को बुनती है। अमृतरूपी दूध देने वाली गौएँ आपके लिए समस्त (दूध रूप) धनों को प्रदान करती है। इन्हीं अजन्मा हवाओं से नदियों (समुद्रों) का जल ऊपर आकाश में जाता है। जाने के बाद बरस कर नदियों में पुनः आता है, अतएव जलवृष्टि के कारण के मूल में वायुदेव ही है।<sup>(6)</sup>

जलों की स्थापना तथा दूसरे स्थान पर ले जाने में वायु का ही विशेष सहयोग होता है। निरन्तर प्राणवायु के संचार से वायु ही विभिन्न आसुरी शक्तियों से मनुष्यों की रक्षा करती है।<sup>(7)</sup> हमारी वायु शुद्ध रहे और उस शुद्ध हवा में निरन्तर प्राणवायु का संचार होता रहे, इस प्रयोजन के लिए ऋग्वैदिक ऋषि महर्षि ऋतुओं के अनुसार यज्ञ सम्पन्न करते थे।<sup>(8)</sup>

मरुद्गणा विशाल मेघों को एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर प्रेरित करते हैं। मरुद्गण ही मेघों के द्वारा वर्षा कर समुद्र में हलचल पैदा करते हैं। इसलिए मरुद्गण ऋग्वैदिक समाज के लिए आराधनीय, प्रशंसनीय और प्रार्थनीय रहे हैं।<sup>(9)</sup> आकाश में मेघों में विद्युत चमकने से नाइट्रोजन आदि में वायु में उर्वरता बढ़ाने वाले घटक बनते हैं, जो जीवन रक्षक एवं कल्याणकारी होते हैं।<sup>(10)</sup>

वायु के इस महत्त्व को समझते हुए ही वैदिक काल में ऐसे मरुद्गणों की विभिन्न प्रकार से आराधना की जाती थी, जिससे वे हमें सुन्दर व स्वस्थ पर्यावरण प्रदान करें।<sup>(11)</sup>

जल ही जीवन है। मानव का अस्तित्व शुद्ध जल पर आश्रित है। कृषि कार्यों के लिए जल की आवश्यकता पड़ती है। पशु-पक्षी वृक्ष आदि का जीवन भी जल पर ही आधारित है। जल की इस विपुल महत्ता को देखते हुए ऋग्वैदिक समाज ने यज्ञों, स्तुतियों एवं अपने अन्य कार्यों के द्वारा जल का संरक्षण किया।

विविध स्रोतों से प्राप्त होने वाले जल का प्रकृति के लिए अपना-अपना महत्त्व है, इस बात से ऋग्वैदिक समाज भली भांति परिचित था। अतएव सभी प्रकार के जल उनके लिए पूजनीय थे— जो दिव्य जल आकाश से (वृष्टि द्वारा) प्राप्त होते हैं, जो नदियों में सदा गमनशील हैं, खोदकर जो (कुएँ आदि) से निकाले जाते हैं, वे दिव्यतापूर्ण जल हमारी रक्षा करें।<sup>(12)</sup> ऋग्वैदिक कालीन मनुष्य अपने पशुओं के पीने योग्य जल के प्रति भी सावधानी एवं जागरुकता रखते थे –

‘हमारी गायें जिस जल का सेवन करती हैं, उन जलों का हम स्तुतिगान करते हैं। (अन्तरिक्ष एवं भूमि पर) प्रवाहमान उन जलों के निमित्त हम हवि अर्पित करते हैं।<sup>(13)</sup> जल अमृत के समान गुणकारी होता है। जल में औषधीय गुण होते हैं, ऐसे जल को ऋग्वैदिक काल में वन्दनीय एवं आराधनीय माना गया है।<sup>(14)</sup> जलों को ऋग्वेद में सुखों का मूल कहा गया है और ऐसे जल से प्रार्थना की गयी है कि वे जल मानवों को पराक्रमयुक्त एवं उत्तम

कार्य करने के लिए प्रेरित करें।<sup>(15)</sup> ऋग्वेद में शुद्ध जल की प्रशंसा की गयी है – वह जल पीने योग्य, कल्याणकारी एवं सुखकर हो, मस्तक के ऊपर क्षरित होकर वह विभिन्न रोगों को दूर करे।<sup>(16)</sup> जल प्रवाहों से ही मनुष्य अपने इच्छित पदार्थों को प्राप्त करता है। जल समस्त प्राणि-जगत का आश्रय है। जल से ही औषधियों में जीवन रस सम्पृक्त होता है –

**“ईशाना वार्याणां क्षयन्ती चर्षणीनाम्।**

**अपो याचामि भेषजम्।।” (17)**

ऋग्वेद में बताया गया है कि जल में सम्पूर्ण औषधि-रस तथा संसार के लिए सुखदायक अस्तित्व विद्यमान रहता है –

**“अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।**

**अग्निं च विश्वशम्भुवम्।।” (18)**

नदियाँ हमारे लिए प्रकृति प्रदत्त अनुपम उपहार हैं। ऋग्वैदिक ऋषि इस बात को भली प्रकार जानते थे। अतः वे यज्ञों, स्तुतियों से नदियों की आराधना करते थे। ऋग्वेद में वर्णन मिलता है कि मनुष्यों को ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए, जिनसे नदियों के प्रवाह अवरुद्ध हों, उनकी पवित्रता प्रभावित हो – “हे स्तोता (विश्वमित्र)! अपने ये स्तुति वचन कभी न भूलना। भावी समय में यज्ञों में इन बचनों की उद्घोषणा द्वारा हमारी सेवा करें हम (दोनों नदियाँ) आपको नमस्कार करती हैं। पुरुषों द्वारा सम्पादित कर्मों में कभी भी हमारी उपेक्षा न करें।”<sup>(19)</sup>

नदियों के प्रवाह को नहीं रोका जाना चाहिए, ऋग्वैदिक ऋषियों द्वारा की गयी स्तुति इसी बात को प्रमाणित करती है –

**‘उद्वर्कर्मिः शम्या हन्तवापो योक्त्रापि मुंचत।**

**मादुष्कृतौ व्येनसाध्न्यौ शूनमारताम्।।” (20)**

हे नदियाँ! आपकी तरंगे रथ की धुरी से टकराती रहें। हे दुष्कर्महीना, पापरहिता, आनिन्दनीया नदियाँ! आपको कोई बाधा न हो। पृथ्वीलोक एवं द्युलोक पर्यावरण के मुख्य अंग हैं। ऋग्वैदिक समाज ने इस बात के प्रति बहुत सावधानी, जागरुकता रखते हुए ही विभिन्न कार्यों को सम्पन्न किया और अपने कार्यों के द्वारा पृथ्वी एवं द्युलोक का संरक्षण, पोषण एवं वन्दन करते हुए परमानन्द को प्राप्त किया –

**“स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी।**

**यच्छा नः शर्म सप्रथः।।” (21)**

द्युलोक एवं पृथ्वी लोक दोनों के सहयोग से ही पर्यावरण सुन्दर रह सकता है। दोनों ही पर्यावरण के मुख्य आधार हैं। अतएव ऋषियों ने सृष्टि को उत्पन्न करने के कारण द्यावा, पृथ्वी को कई स्थलों पर जननी स्वरूप मानकर आराधना की है :

**“प्र द्यावा यज्ञैः पृथ्वी नमोभिः सबाध ईले वृहती यजन्ने।  
ते चिद्ध पूर्वे कवयो गृणन्तः पुरमही दधिरे देवपुत्रे।।”<sup>(22)</sup>**

द्युलोक और पृथिवि लोक को सृष्टि की उत्पत्ति एवं पोषण करने के कारण माता-पिता स्वरूप मानकर उनकी आराधना करना ऋग्वैदिक समाज अपना कर्तव्य मानता था –

‘हे याजकों। मातृ-पितृ रूप द्यावा-पृथिवि को यज्ञ के अग्र भाग में स्थापित नवीन स्तोत्रों द्वारा सुपूजित करो। हे द्यावा – पृथिवि! देवों के साथ दिव्य ऐश्वर्य देने के लिए आप हमारे पास पधारें।”<sup>(23)</sup>

‘हे द्यावा पृथिवि! आपके पास जो अनेक प्रकार का दिव्य,

रमणीय और अक्षय धन हे, वह हमें प्रदान करें तथा कल्याण के साथ हमारा पालन करें।<sup>(24)</sup> ऋग्वेद में भूमि को प्रकृष्ट गुणवती कहा गया है। पृथिवी अपनी सामर्थ्य से भूमिचर प्राणियों को पुष्ट करती है। पर्वत समूहों को धारण करती है। वनस्पतियों को धारण करती है एवं वृष्टि को अपनी ओर आकर्षित करती है।<sup>(25)</sup> वायु, जल, पृथिवी आदि प्रकृति के सभी अंग एक अनुशासन के अधीन रहकर ही सुव्यवस्था एवं सौन्दर्य को धारण करते हुए विद्यमान रहते हैं, किन्तु मनुष्य अपनी विभिन्न प्रकार की सुख-सुविधाओं एवं अपनी अन्य अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण समय-समय पर प्रकृति के इस अनुशासन का उल्लंघन करता रहता है और जब वह ऐसा करता है, तब प्रकृति को कोप का भाजन बनता है। ऋग्वैदिक समाज इस बात को समझता था, इस कारण वह प्रकृति के इस अनुशासन को बनाए रखने का भरपूर प्रयत्न करता था :

“जो मेरा अनुशासन नहीं मानते, देवों के पेय सोम का स्वेच्छा से बल पूर्वक पीने वाले, हविष्य पदार्थों के स्वयं उपभोगकर्ता तथा हिंसा के लिए भुजाओं को चलाने वाले ऐसे सभी लोग मेरी दृष्टि से बाहर नहीं हैं, मैं उनसे भली प्रकार परिचित हूँ, जो अपने मित्र की भी निन्दा करने में नहीं चूकते, ऐसे सभी लोगों पर निश्चित ही मेरा वज्र प्रहार होता है।<sup>(26)</sup> प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता तथा सहानुभूति मानव समाज के ऐसे गुण हैं, जो पर्यावरण संरक्षण में बहुत सहायक होते हैं।

निम्नलिखित उदाहरण ऋग्वैदिक समाज की प्रकृति के प्रति संवेदनशील एवं सहानुभूति की पराकाष्ठा को व्यक्त करता है :

हे औषधियों! (रोगोपचार के लिये आपके मूल भाग की आवश्यकता है अतएव) खुदाई करने वाले पुरुष खनन दोष से सर्वथा वंचित रहें एवं जिस रोगी के उपचार हेतु आपका खनन किया जाता है, वह भी दोषमुक्त हो। हमारे स्त्री, पुत्रादि, परिजन तथा गवादि पशु सभी आरोग्य लाभ करें।<sup>(27)</sup>

निष्कर्ष :

आधुनिक समय में विकास की अपनी अन्धी दौड़ के कारण मानव लगातार अपने पर्यावरण की अनदेखी करता हुआ यह बात भी भूल रहा है कि ऐसा करते हुए वह अपने ही विनाश के द्वारों को उद्घाटित कर रहा है। अतः यदि मानव को अपना वास्तविक विकास एवं उन्नयन करना है, तो उसे अपने पर्यावरण का संरक्षण करना होगा। हमारे ग्रन्थ ऋग्वेद से हमें यही निर्देश प्राप्त होते हैं कि मानव को प्रकृति का एक अभिन्न अंग होने के कारण प्रकृति के अन्य अंगों – वायु, जल, भूमि, वनस्पति, पशु, पक्षी आदि के संरक्षण संवर्धन एवं पोषण पर भी ध्यान देना होगा, तभी वह हर क्षेत्र में अपना विकास एवं उन्नयन करते हुए सुन्दर, स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन जी पाएगा।

**सन्दर्भ :**

(1) आचार्य श्री नवीन भाई, दिसम्बर 2008, नवीनोदय, श्री नवीन भाई आचार्य अभिनन्दन समारोह समिति 1/8, किबे कम्पाउण्ड, ढाबा रोड, उज्जैन (म० प्र०)।

(2) ऋग्वेद (भूमिका), भाग 1, संवत् 2059, बहवर्चस् शान्तिकुंज, हरिद्वार, उत्तरांचल, पृ० 1.

(3) टण्डन, डॉ० किरन एवं जया, डॉ० तिवारी (व्याख्याकार) (2005) : वैदिक सूक्त चयनिका, अंकित प्रकाशन, चन्द्रावती पीली कोठी, हल्द्वानी, पृ० 41-42.

(4) ऋग्वेद, भाग-1, संवत् 2050, बहवर्चस्, शान्तिकुंज, हरिद्वार, उत्तरांचल, पृ० 18.

(5) वही, भाग-1, पृ० 9.

(6) वही, भाग-1, पृ० 208.

(7) वही, भाग-1, पृ० 208.

(8) वही, भाग-1, पृ० 208-209.

(9) वही, भाग-1, पृ० 22.

(10) वही, भाग-1, पृ० 27.

(11) वही, भाग-1, पृ० 54.

(12) वही, भाग-3, पृ० 61.

(13) वही, भाग-1, पृ० 28.

(14) वही, भाग-1, पृ० 28.

(15) वही, भाग-4, पृ० 11.

(16) वही, भाग-4, पृ० 11.

(17) वही, भाग-4, पृ० 12.

(18) वही, भाग-2, पृ० 48.

(19) वही, भाग-2, पृ० 49.

(20) वही, भाग-2, पृ० 49.

(21) वही, भाग-1, पृ० 25.

(22) वही, भाग-3, पृ० 63.

(23) वही, भाग-3, पृ० 63.

(24) वही, भाग-3, पृ० 64.

(25) वही, भाग-2, पृ० 100.

(26) वही, भाग-4, पृ० 42.

(27) वही, भाग-4, पृ० 183.





## ऋग्वेद-प्रातिशाख्य स्वरोच्चारण दोष के संदर्भ में : एक अध्ययन

प्रस्तुत शोधपत्र में ऋग्वेद-प्रातिशाख्य स्वरोच्चारण दोष के संदर्भ में अध्ययन किया गया है। जब उच्चारण स्थान और उच्चारण अवयव असंयुक्त संकोचन होता है, तब 'पीडन' नाम दोष होता है। 'पीडन' शब्द 'दबाना' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'पीड्' धातु से 'ल्युट' प्रत्यय करके 'पीडन' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। जब उच्चारण स्थान और उच्चारण अवयव का संकोचन होता है, तब ध्वनि पूर्ण रूप से न निकलकर दबकर निकलती है और यह दोष उत्पन्न होता है। "विहार संहारयोर्व्यासपीडने" "पीडनं द्विर्भावः" अर्थात् 'पीडन' में द्विरुच्चारण होता है। यह दोष तभी उत्पन्न होता है, जब कोई वर्ण अपने सम्पूर्ण उच्चारण स्थान उच्चारित न होकर उसके अर्द्धभाग से ही उच्चारित किया जाता है, इससे द्विरुच्चारण होता है।

**डॉ. अजय कुमार**

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में शुद्ध मन्त्रोच्चारण पर विशेष बल दिया गया है। इसी कारण वेद-पुरुष की रक्षा के लिए छः वेदागों का प्रतिपादन किया गया— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। सम्पूर्ण षड मिलकर की वेद-पुरुष के स्वरूप की रक्षा करते हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अपनी शुद्धोच्चारण प्रक्रिया द्वारा शिष्यों को शिक्षा प्रदान करते थे। शिष्य गुरुमुख से अधीत मन्त्रों को आत्मसात करते हुए शुद्ध मन्त्रोच्चारण करते थे। इस वेदाध्ययन की परम्परा में गुरुमुख श्रवण पूर्वक शिष्यों का मन्त्रोच्चारण ही मुख्य था। इसीलिए तो वेदों को 'श्रुति' से अभिहित किया जाता है। शिष्यों के मन्त्रोच्चारण के समय गुरु सर्वदा यह ध्यान रखता था कि शिष्य शाखानुसार मन्त्रोच्चारण कर रहा है या नहीं। अशुद्ध पठन से कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। मन्त्रोच्चारण शुद्ध न होने से फल की प्राप्ति तो होती नहीं, अनिष्ट हो जाता है — अशुद्धोच्चारण से कैसे अनर्थ होता है, यह स्पष्ट करते हुए पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है कि —

*"मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।  
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।"*<sup>(1)</sup>

आचार्य पतंजलि ने 'महामाष्य' में स्पष्ट लिखा है कि असुर लोग 'हे अरयोऽरयः' के स्थान पर "हेलयो हेलयः" यह अशुद्ध उच्चारण करके पराजित हो गए, इसलिए ब्राह्मण को म्लेच्छ अर्थात् अपशब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।<sup>(2)</sup>

शब्दों के शुद्धोच्चारण से सुखद और अशुद्धोच्चारण से दुखद परिणाम को अभिव्यक्त करते हुए आचार्य पतंजलि ने कहा है कि जो कुशल व्यक्ति व्यवहार के समय शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण करता है वह वाग्योगविद् परलोक में अनन्त विजय को प्राप्त करता है। इसके विपरीत वाणी योग को न जानने वाला व्यक्ति अपशब्दों से दूषित हो जाता है, अर्थात् पाप का भागी बनता है —

*"यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे, शब्दान्यथावद् व्यवहारकाले।  
सेऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र, वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।।"*<sup>(3)</sup>

मन्त्रोच्चारण के अनेकानेक दोषों से बचने के लिए आचार्य शौनक ने चतुर्दश पटल में दोषों का ही विवेचन किया है। इस पटल में दोषों का जैसा सूक्ष्म विवेचन किया गया है, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता दोष, 'स्वर' और व्यंजन दोनों में होते हैं। अतः अध्ययन सौन्दर्य की दृष्टि से सम्पूर्ण दोषों को दो भागों में बांटा जा सकता है :

- (1) 'स्वरों' के उच्चारण में दोष और
- (2) 'व्यंजनों' के उच्चारण में दोष।

**स्वरोच्चारण दोष :**

आचार्य शौनक ने ऋग्वेद प्रातिशाख्य में स्वरों के पाँच प्रकार के दोष बताए हैं, 'स्वर' सामान्य के दोष, विशिष्ट स्वरों के दोष, 'अनुनासिक' स्वरों के दोष, 'अनुस्वार' के दोष और विवृत्ति के दोष।

उपर्युक्त दोषों का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है:

(क) **स्वर सामान्य के दोष :**

(1) **निरस्त दोष :** उच्चारण स्थान एवं उच्चारण अवयव का अपकर्ष होने पर निरस्त नामक दोष होता है। 'निरस्त' शब्द 'निर' हुआ 'इधर—उधर फेंका हुआ।' जब कोई वर्ण अपने उच्चारण स्थान अथवा उच्चारण अवयव से सम्यगुच्चारित न होकर इधर—उधर फेंक दिया जाता है, तो वह 'अपष्ट' हो जाता है, तब 'निरस्त' संज्ञक नामक दोष होता है— "निरस्तं स्थानकरणापकर्षे"।<sup>(4)</sup>

(2) व्यास : "विहारसंहारयोर्व्यासपीडने"<sup>(6)</sup> अर्थात् जब उच्चारण स्थान और उच्चारण अवयव का अयुक्त विस्तार और संकोचन होता है तब विस्तार के परिप्रेक्ष्य में व्यास नाम दोष होता है।

'व्यास' शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'अस' धातु से व्युत्पन्न है।

पी-एच.डी. ( संस्कृत )

इस प्रकार 'व्यास' का अर्थ हुआ विशेष रूप से फेका हुआ, अर्थात् विस्तृत किया हुआ। जब कोई वर्ण विशेष रूप से फेंक दिया जाता है, अर्थात् अपने उच्चारण स्थान के साथ-साथ समीपस्थ उच्चारण स्थान से भी उच्चारित किया जाता है, तो उच्चारण स्थान का विस्तार हो जाता है, इसीलिए इस दोष को 'व्यास' संज्ञा प्रदान की गई है – "व्यासोऽविवेकः"<sup>(6)</sup> लिखकर उव्वट ने स्पष्ट किया है कि 'व्यास' में विवेक नहीं होता। 'व्यास' दोष तब उत्पन्न होता है, जब उच्चारण स्थान का स्वातन्त्र्य नहीं होता अर्थात् जब वर्णोच्चारण करते समय दो उच्चारण स्थान परस्पर मिश्रित हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में स्पष्ट उच्चारण नहीं होता, इसे 'व्यास' नामक दोष कहते हैं।

(3) **अयथामात्रवचन** : मात्राओं के आधार पर स्वरों का विभाजन तीन प्रकार से किया जाता है, 'ह्रस्व', 'दीर्घ' और 'प्लुत'। कभी-कभी मात्रों के अनुसार स्वरों के उच्चारण नहीं होते – "अयथामात्रं वचनं स्वराणाम् = ह्रस्वदीर्घप्लुतानामयथामात्रो- च्चारणं दोषो भवति। प्रायेण दीर्घेषु ह्रस्वेषु च रक्तेषु मात्राधिक्यं कुर्वन्ति।"<sup>(7)</sup> अर्थात् प्रायः 'दीर्घ' स्वर वर्णों में और 'अनुनासिक' 'ह्रस्व' स्वर वर्णों में मात्राधिक्य कर देते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए कहा गया है – रक्तं ह्रस्वं द्राघयन्त्युग्रं ओकः।"<sup>(8)</sup> अर्थात् 'अनुनासिक' (रक्त) 'ह्रस्व' स्वर को 'दीर्घ' कर देते हैं, जैसे – 'उग्रं ओकः' 9 में 'उग्रं ओकः' कर दिया जाता है।

(4) **पीडन** : जब उच्चारण स्थान और उच्चारण अवयव असंयुक्त संकोचन होता है, तब 'पीडन' नामक दोष होता है। 'पीडन' शब्द 'दबाना' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'पीड्' धातु से 'ल्युट' प्रत्यय करके 'पीडन' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। जब उच्चारण स्थान और उच्चारण अवयव का संकोचन होता है, तब ध्वनि पूर्ण रूप से न निकलकर दबकर निकलती है और यह दोष उत्पन्न होता है। "विहार संहारयोर्व्यासपीडने"<sup>(10)</sup> "पीडनं द्विर्भावः"<sup>(11)</sup> अर्थात् 'पीडन' में द्विरुच्चारण होता है। यह दोष तभी उत्पन्न होता है, जब कोई वर्ण अपने सम्पूर्ण उच्चारण स्थान उच्चारित न होकर उसके अर्धभाग से ही उच्चारित किया जाता है, इससे द्विरुच्चारण होता है।

(5) **संदंश** : जब किसी वर्ण का उच्चारण जबड़ों को नीचा करके किया जाता है, तब 'संदंश' नामक दोष होता है। 'संदंश' शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक 'दंश' धातु से व्युत्पन्न है। 'दबाया हुआ' या 'मिलाया हुआ' जब किसी वर्ण के उच्चारण में जबड़े एक-दूसरे के अति समीप आ जाते हैं, जब ध्वनि दाँतों के नीचे से दबकर निकलती है, इसी कारण यह दोष उत्पन्न होता है – "संदंशं तु व्रीळन आह हन्चोः"<sup>(12)</sup>

(6) राग : "रक्तैः रागः समवाये स्वराणां न नूनं नृम्णं नृमणा नृभिर्नृन्।"<sup>(13)</sup> अर्थात् 'अनुनासिक' व्यंजनों के साथ सम्बन्ध होने पर स्वरों की अनुनासिकता (राग) कर दी जाती है, जैसे – न नूनम्, नृम्णम्, नृमणाः और नृभिर्नृन् के उच्चारण को क्रमशः 'नूँ नूँन्म्', 'नृँम्णम्', 'नृँम्णाः' और 'नृँभिर्नृन्' कर दिया जाता है।

(ख) **विशिष्ट स्वर दोष** : विशिष्ट स्वरों के दोषों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है :

(1) **ग्रस्त दोष** : जिनादोष का निग्रह मूल पर होने पर 'ग्रस्त दोष' होता है, "जिनामूल निग्रहे ग्रस्तमेतत्"<sup>(14)</sup> अर्थात् जिना

के मूल का निग्रह होने पर 'ग्रस्त' नामक दोष होता है। 'ग्रस्त' शब्द 'ग्रस्' धातु से व्युत्पन्न है। 'ग्रस' धातु का अर्थ है, 'दबाया हुआ' या 'नीचा किया हुआ'। 'अ' का 'अ' या 'आ' के उच्चारण में कभी-कभी जिना मूल को नीचे दबा दिया जाता है, जिससे वर्णोच्चारण अस्पष्ट हो जाता है – "ग्रासः कण्ठयोः"<sup>(15)</sup>

(2) **अन्यवर्णत्व दोष** : 'अन्यवर्णत्व' नाम से किसी भी दोष का विवेचन ऋक्प्रातिशाख्य में नहीं किया गया है। कुछ ऐसे दोषों का विवेचन अवश्य है, जो इस संज्ञा में सन्निविष्ट किए जा सकते हैं। अध्ययन सौकर्य की दृष्टि से इस संज्ञा का विधान यहाँ कर लिया गया है।

जब किसी वर्ण के स्थान में अन्य वर्ण का उच्चारण किया जाता है, तो इसे 'अन्यवर्णत्व' नामक दोष कहा जा सकता है।

(1) **ऐकार का दोष** : 'ऐयेः' तथा 'वैय व' पदों व इनके समान पदों में यकार का द्वित्व करते हुए 'ऐकार' का 'अकार' उच्चारण किया जाता है –

"ऐयेरित्यैकारमकारमाहुः,  
वैयश्वेति क्रमयन्तो यकारम्।।"<sup>(16)</sup>

इस प्रकार 'ऐयेः' एवं 'वैयव' के स्थान पर 'अय्यैः' एवं 'वैयश्व' का उच्चारण किया जाता है।

(2) **ऋकार और ॠकार का दोष** : 'मातृः', 'पितृन्', 'नृभिः' एवं 'नृन्' जैसे पदों के स्थान में 'ऋ' और 'ॠ' का उच्चारण रेफ सहित उकार के समान कर दिया जाता है –

"स्वरौ कुर्वन्त्योष्ठयनिभौ सरफौ,  
तिस्रो मातृस्त्रीन्पितृन्पितृन्।।"<sup>(17)</sup>

इस प्रकार 'मातृः', 'पितृन्', 'नृभिः', तथा 'नृन्' का उच्चारण क्रमशः 'मातृः', 'पितृन्' 'नृभिः' और 'नृन्' किया जाता है। ऐसी स्थिति प्रायः दक्षिण भारतीयों में देखी जाती है।

(3) **विपरीत उच्चारण दोष** : 'रय्या', 'वय्यम्' और 'हृदय्यया' जैसे पदों में उन्हीं के विपरीत उच्चारण करते हैं, जैसे – 'रय्या' के स्थान पर 'रैया', 'वय्यम्' के स्थान पर 'वैयम्' तथा 'हृदय्यया' के स्थान पर 'हृदैयया' उच्चारण करते हैं।

(4) **अकरादि दोष** :

"अकारस्य स्थान ऐकारमाहु –  
लुम्पन्ति च सयमीकारमुत्तरम्।  
बनक्षरं द्वयक्षरतां नयन्ति,  
यथोनयीध्वनयीत्कोशयीरिति।।"<sup>(18)</sup>

अकार के स्थान में ऐकार का उच्चारण करते हैं और परवर्ती इकार को यकार के सहित लुप्त कर देते हैं। इस प्रकार बृहत् अक्षरों को दो अक्षरों का बना देते हैं, उदाहरणार्थ – 'ऊनयी', 'ध्वनयीत्' और 'कोशयीः' पदों में क्रमशः 'ऊनैः', 'ध्वनैत्' और 'कोशैः' का उच्चारण कर देते हैं।

(5) **ऐकारादि दोष** : अन्य पदों में जहाँ ऐकार का उच्चारण करना चाहिए, वहाँ अकार का उच्चारण करने के पश्चात् विद्यमान यकार सहित ईकार का उच्चारण कर देते हैं :

"तदेव चान्यत्र विपर्ययेण, कार्य एत्वे सयमीकारमाहुः।  
धातोर्भिभेतेजयतेर्निय चा, शौष्वाजौष्म नैष्टेति चैषुः।।"<sup>(19)</sup>

उदाहरण – 'भी', 'जि', और 'नी' धातुओं से व्युत्पन्न, अभैष्म 'अजैष्म' और 'नैष्ट' पदों का क्रमशः 'अभ्यैष्म', 'अजयीष्मः'

और 'नयीष्ट' उच्चारण कर दिया जाता है।

**(6) इकार के दोष :**

“इकारस्य स्थान ऋकारमाहु -  
लृकारं व चन्द्रनिर्णिकसुशिल्पे।।” (20)

‘चन्द्रनिर्णिक’ और ‘सुशिल्पे’ इत्यादि में इकार के स्थान पर ऋकार अथवा लृकार का उच्चारण करते हैं। इस प्रकार ‘चन्द्रनिर्णिक’ को ‘चन्द्रनृर्णिक’ और ‘सुशिल्पे’ को ‘सुश्लृपे’ उच्चारण करते हैं।

**(7) ऋकार का दोष :** यदि ‘तालव्य’ वर्ण बिना व्यवधान के पूर्व में हो अथवा परे हो, तो ‘ऋकार’ के स्थान पर इकार का उच्चारण किया जाता है।

“अनन्तरे तद्विपरीतमाहुस्, तालव्येशृणे विभृयाद्विचृताः।।” (21)

उदाहरण - ‘शृणे’ के स्थान पर ‘शिणे’, ‘विभृयात्’ के स्थान पर ‘बिभियात्’ और ‘विचृताः’ के स्थान पर ‘बिचित्ताः’ उच्चारण किया जाता है।

**(ग) अनुनासिक स्वर दोष :**

**(1) सन्दष्टता :**

“अनुनासिकानां संदष्टता विषमरागता वा।।” (22)

अर्थात् अनुनासिक वर्णों के ‘संदष्टता’ और ‘विषमरागता’ नामक दोष होते हैं, जब किसी वर्ण के उच्चारण में जबड़े एक दूसरे के अत्यधिक समीप आ जाते हैं, तब ध्वनि दाँतों के नीचे से दबकर निकलती है, तो ‘संदष्टता’ नामक दोष होता है।

**(2) विषमरागता :** ऋक्प्रातिशाख्य 14/13 में ‘संदष्टता’ व ‘विषमरागता’ नामक दोष का कथन किया गया है। ‘संदष्टता’ का उल्लेख किया जा चुका है। ‘विषमरागता’ दोष अनुनासिक स्वरों का होता है। ‘विषमरागता’ का अर्थ है - विपरीत अनुनासिकता। जब अनुनासिक का उच्चारण अननुनासिक कर दिया जाता है और समीपवर्ती अननुनासिक स्वर को अनुनासिक के समान उच्चरित किया जाता है तो ‘विषमरागता’ नामक दोष होता है, जैसे - ‘अक्रतँ एमि’ का उच्चारण करते समय ‘क्र’ को अनुनासिक उच्चारण किया जाये और ‘तँ’ को अननुनासिक उच्चारण किया जाय तो विषमरागता नामक दोष होता है।

**(3) दीर्घाकरण :** जब अनुनासिक स्वर वर्ण का दीर्घ स्वर वर्ण के समान उच्चारण करते हैं, तो ‘दीर्घाकरण’ नामक दोष होता है। उदाहरणार्थ - ‘उग्रँओकः’ का उच्चारण ‘उग्रँओकः’ कर दिया जाता है।

**(घ) अनुस्वार गत दोष :** जब अनुस्वार का उच्चारण सही स्थान में नहीं किया जाता है, तो ‘अनुस्वारगत’ दोष होता है। इस दोष को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :

**(1) अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार का उच्चारण :**

“स्पर्शाभ्रसंधीन्स्पर्शरेफसंधीनभिप्रायौ च परिपादयन्ति।।” (23)

अर्थात् ‘स्पर्शाभ्र’, ‘स्पर्शरेफ’, ‘विवृत्याभिप्राय’ सन्धियों में अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार का उच्चारण कर दिया जाता है, जैसे-‘ताँस्ते अश्याम’ को ‘तांस्ते अश्याम’ उच्चारण करना।

**(2) स्वर से परवर्ती अनुनासिक से पूर्व में अनुस्वार का उच्चारण अथवा उपधा का अन्य वर्ण में परिवर्तन -**

“अनुस्वारमुपधां वान्यवर्णां, स्वरोपधात्सोभ्यमोदयश्चेत्।  
तङ्घन्त्यंज्मो जङ्घन्त इङ्खयन्ती।।” (24)

संजातरूपोऽथ संज्ञानमिन्द्रः।।”

अर्थात् स्वर वर्ण पूर्व में जिसके ऐसे अनुनासिक व्यंजन से पूर्व में अनुस्वार का उच्चारण कर देते हैं, यदि अनुनासिक व्यंजन से वाद में सोष्म या यम वर्ण हो जैसे-‘तङ्घन्ति’, ‘अंजमः’, ‘जङ्घन्तः’, ‘इङ्खयन्ती’, ‘संजातरूपः’ तथा ‘संज्ञानमिन्द्रः’ का क्रमशः ‘तङ्घन्ति’, ‘अंजमः’, ‘जङ्घन्तः’, ‘इङ्खयन्ती’, ‘संजातरूपः’ तथा ‘संज्ञानमिन्द्रः’ उच्चारण किया जाता है।

इस दोष के विषय में भाष्यकार उत्तर ने अपना अभिमत प्रकट किया है, जिसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :

**(1) कतिपय आचार्यों के अनुसार अनुनासिक व्यंजन के बाद में अनुस्वार का उच्चारण कर दिया जाता है, इससे ‘तङ्घन्ति’, ‘अंजमः’, ‘जङ्घन्तः’, ‘इङ्खयन्ती’, ‘संजातरूपः’ तथा ‘संज्ञानमिन्द्रः’ का उच्चारण क्रमशः ‘तङ्घन्ति’, ‘अंजमः’, ‘जङ्घन्तः’, ‘इङ्खयन्ती’, ‘संजातरूपः’ तथा ‘संज्ञानमिन्द्रः’ उच्चारण किया जाता है।**

**(2) कुछ लोग ‘अनुनासिक’ व्यंजन का ही ‘अनुस्वार’ उच्चारण करते हैं, इस प्रकार ‘तङ्घन्ति’, ‘अंजमः’, ‘जङ्घन्तः’, ‘इङ्खयन्ती’, ‘संजातरूपः’ तथा ‘संज्ञानमिन्द्रः’ का उच्चारण क्रमशः ‘तङ्घन्ति’, ‘अंजमः’, ‘जङ्घन्तः’, ‘इङ्खयन्ती’, ‘संजातरूपः’ तथा ‘संज्ञानमिन्द्रः’ कर दिया जाता है।**

**(ङ) विवृत्तिगत दोष :**

**(1) परवर्ती पद का आदि लोप :** विवृतियों में परवर्ती पद के आदि वर्ण का लोप कर दिया जाता है :

“विवृत्तिषु प्रत्ययादेरदर्शनं,

यथा या ऐच्छ च य औशिजश्च।।” (25)

उदाहरणार्थ - ‘या ऐच्छः’ और ‘यः औशिजः’ का उच्चारण ‘याच्छः’ तथा ‘य शिजः’ किया जाता है।

**(2) आगम का लोप :** कतिपय विवृत्ति स्थलों में पूर्ववर्ती अकार के साथ इकार और उकार की सन्धि करके सन्धि से उत्पन्न स्वर वर्ण का उच्चारण और परवर्ती वर्ण (इ, उ) का लोप कर दिया जाता है।

“इउसंधौ संध्यवचनं च कासुचित्,

स इदस्ता कस्त उषो यथौते।।” (26)

उदाहरण - ‘स इदस्ता’ तथा ‘कस्त उषः’ का उच्चारण क्रमशः ‘सेदस्ता’ तथा ‘कस्तोषः’ किया जाता है।

**(3) विपर्यय अथवा लोप :** समान वर्णों वाली विवृतियों में वर्णों में परस्पर विपर्यय अर्थात् स्थान परिवर्तन कर दिया जाता है या परवर्ती पद के आदि वर्ण का लोप कर दिया जाता है।

“समानवर्णासु विपर्ययो वा, यथा ह्रूती इन्द्र क आसतश्च।।” (27)

उदाहरण - ‘ऊती इन्द्र’ तथा ‘क आसत’ का उच्चारण क्रमशः ‘ऊति इन्द्र’ तथा ‘का असत्’ किया जाता है या ‘उतीन्द्र’ तथा ‘क सतः’ किया जाता है।

**(4) अभिव्यादान :** अभिव्यादान को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार उवट ने 14/62 के भाष्य में स्पष्ट किया है कि अभिव्यादान क्या है? “आदानम् आरम्भः। विविधं विपुलं विशालं वा आदानम्। अथवा आदानमेव = व्यादानम्। केनचिदभिव्याप्तभिभूतं वा व्यादानं यस्य तदिदमभिव्यादानं भवत्यक्षरम्।” (28) अर्थात् ‘आदान = आरम्भ’, ‘व्यादान = विविध या विपुल या विशाल आदान। अथवा आदान = व्यादान। किसी के द्वारा अभिव्याप्त या अभिभूत

है आरम्भ (व्यादान) जिसका उस अक्षर का व्यादान होता है।

विवृति से पूर्ववर्ती और परवर्ती ये दोनों जब दीर्घ कण्ठ्य स्वर 'आ' होते हैं, तब 'ता आपः', 'अवसा आ' आदि स्थलों पर विवृति के द्वारा परवर्ती स्वर का आरम्भ व्याप्त कर लिया जाता है।

**“अभिव्यादानं च विवृति पूर्व**

**कण्ठ्ये ता आपोऽवसा एति दीर्घे।” (29)**

भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि यहाँ 'विवृति' चौथाई मात्रा से अधिक होती है। उसके द्वारा परवर्ती वर्ण का आरम्भ व्याप्त कर लिया जाता है –

**“पादमात्रा विवृतिरिह समाधिका क्रियते तथा परस्याम्भो व्याप्यत इव्यर्थः। क्व?ता आपः, अवसा आ इत्येवमादिषु।”**

**संदर्भ :**

- (1) पाणिनीय शिक्षा, पृष्ठ 52 (पा०शि०, पृ० 52).
- (2) महाभाष्य, पृष्ठ 18.
- (3) महाभाष्य, पृष्ठ 20.
- (4) ऋग्वेद प्रातिशाख्य, 1412 (ऋ०प्रा०).
- (5) ऋ०प्रा०, 14/3.
- (6) ऋ०प्रा०, पृ० 7/8.
- (7) ऋ०प्रा०, पृ० 721 (14/10 पर उव्वट भाष्य).
- (8) ऋ०प्रा०, 14/51.
- (9) ऋ०प्रा०, 7/25/4.
- (10) ऋ०प्रा०, 7/8.
- (11) ऋ०प्रा०, 14/3 उव्वट भाष्य।
- (12) ऋ०प्रा०, 14/6.
- (13) ऋ०प्रा०, 14/56.
- (14) ऋ०प्रा०, 14/8.
- (15) ऋ०प्रा०, 14/12.
- (16) ऋ०प्रा०, 14/41.
- (17) ऋ०प्रा०, 14/38.
- (18) ऋ०प्रा०, 14/43.
- (19) ऋ०प्रा०, 14/44.
- (20) ऋ०प्रा०, 14/45.
- (21) ऋ०प्रा०, 14/46.
- (22) ऋ०प्रा०, 14/13.
- (23) ऋ०प्रा०, 14/37.
- (24) ऋ०प्रा०, 14/54.
- (25) ऋ०प्रा०, 14/59.
- (26) ऋ०प्रा०, 14/60.
- (27) ऋ०प्रा०, 14/61.
- (28) ऋ०प्रा०, पृ० 753.
- (29) ऋ०प्रा०, 14/62.
- (30) ऋ०प्रा०, पृ० 753.

**संकेत सूची :**

- (1) ऋ०प्रा० = ऋग्वेद प्रातिशाख्य।
- (2) म०भा० = महाभाष्य।
- (3) पा०शि० = पाणिनीय शिक्षा।
- (4) ऋ०वे० = ऋग्वेद।

**संदर्भ ग्रंथ सूची :**

- (1) आचार्य शौनक (अनुवादक एवं परिष्कर्ता – डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा) : ऋग्वेद प्रातिशाख्य, चौखम्भा, सं० प्रतिष्ठान दिल्ली – 110007.
- (2) पाणिनीय शिक्षा, बनारस संस्कृत ग्रन्थमाला।
- (3) त्रिपाठी, डॉ० जयशंकर लाल (1989) : कृष्णदास प्रकाशन।
- (4) मिश्र, डॉ० श्री नारायण (व्याख्याकार) (1978) : पाणिनीय शिक्षा, प्रकाशक चौखम्भा ओरियण्टलिया, प्रथम संस्करण।
- (5) वर्मा, डॉ० सिद्धेश्वर एवं शर्मा, डॉ० देवीदत्त (1973) : प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, हरियाणा, चण्डीगढ़।
- (6) वैद्यनाथ मोतीलाल बनारसी दास (1967) : महाभाष्य, दिल्ली।
- (7) आचार्य वल्देव उपाध्याय (1967) : वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदा मन्दिर, वाराणसी।



**UGC -**

**APPROVED - JOURNAL**

**UGC Journal Details**

<b>Name of the Journal :</b>	Research Link
<b>ISSN Number :</b>	09731628
<b>e-ISSN Number :</b>	
<b>Source :</b>	UNIV
<b>Subject :</b>	Accounting,Anthropology,Business and International Management,Economics, Econometrics and Finance(all),Education,Environmental Science(all),Finance,Geography, Planning and Development,Law,Political Science a,Social Sciences(all)
<b>Publisher :</b>	Research Link
<b>Country of Publication :</b>	India
<b>Broad Subject Category :</b>	Arts & Humanities,Multidisciplinary,Social Science

Print

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग  
**University Grants Commission**  
quality higher education for all

Home About Us Organization Commission Universities Colleges Publications

UGC Approved List of Journals

You searched for **Research Link** Home

Total Journals : 1

Show 25 entries

View	Sl.No.	Journal No	Title	Publisher	ISSN	E-ISSN
<span style="background-color: #4CAF50; color: white; padding: 2px 5px;">View</span>	1	4985	Research Link	Research Link	09731628	

Showing 1 to 1 of 1 entries Previous 1 Next

**For Students**

About NET UGC NET Online  
Ragging Related Circulars  
Paisa Universities - Educational Loan

**For Faculty**

Honours and Awards UGC  
Regulations  
Pay Related Orders - M R P

**More**

Notices Circulars Tenders Jobs  
UGC RICE - Right to Information Act  
Other Higher Education Links